चतुर्थ-अध्याय

व्यक्तित्व की अवधारणा का विश्लेषण एवं व्याख्या

4.0 प्रस्तावना

महर्षि पतञ्जलि विरचित योगसूत्रों में निहित व्यक्तित्व अवधारणा की पृष्ठभूमि एवं उसे दृढ़ता प्रदान करने वाले सम्बन्धित शोध–कार्यों के अवलोकन के पश्चात् निर्धारित शोध प्रविधि के अनुसार शोध योग्य प्रश्नों का उत्तर प्राप्त करने हेतु योगसूत्रों का विश्लेषण एवं उनमें सन्निविष्ट भावार्थों की व्याख्या अपेक्षित है अतः इस अध्याय में पूर्वोक्त शोध प्रश्नों के अनुक्रम में विवेचन प्रस्तुत है।

4.1 पातञ्जलयोग दर्शन में व्यक्तित्व मीमांसा

योग दर्शन के आरम्भिक द्वितीय व तृतीय सूत्र में ही पतञ्जलि ने 'योग' की परिभाषा दी है –

"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" ।।1.2।।

"तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्" ।।1.3।।

अर्थात् अभ्यास एवं वैराग्य द्वारा चित्तवृत्ति–निरोधपूर्वक अपने वास्तविक रूप में प्रतिष्ठित होने की प्रकिया ही 'योग' है वस्तुतः योग एक ऐसी जीवन शैली है जो व्यक्ति को स्वयं के स्वरूप का ज्ञान अर्थात् आत्मानुभूति कराती है जो कि विकसित व्यक्तित्व की चरमावस्था है।

योगदर्शन में व्यक्तित्व, शरीर, अन्तःकरण तथा आत्मा संगठन है और शरीर पर नियन्त्रण, अन्तःकरण पर अनुशासन तथा आत्मा के गूढतम रहस्यों के प्रति चेतना के साथ तीनों में सन्तुलन और समन्वय आधुनिक मनोविज्ञान में भी व्यक्तित्व विकास के मापक हैं तथा योगदर्शन में भी यही साध्य है जिस प्रकार आधुनिक मनोविज्ञान व्यक्तित्व के विवेचन हेतु शारीरिक, मानसिक व बौद्धिक इत्यादि पक्षों का विश्लेषण करता है उसी प्रकार पातञ्जलयोग दर्शन में भी व्यक्तित्व में सम्मिलत तीनों पक्षों के उत्कर्ष हेतु कमशः भौतिक शरीर हेतु शारीरिक, चित्त हेतु मानसिक तथा आत्मा हेतु आध्यात्मिक विकास पर विचार, अभ्यास[76], वैराग्य[77], कियायोग[78] और अष्टाङ्गयोग[79] के माध्यम से किया है। सम्पूर्ण पातञ्जलयोगदर्शन का अध्ययन करने के उपरान्त व्यक्तित्व–अवधारणा से सम्बन्धित सूत्रों के चयन से प्रथमदृष्ट्या यह स्पष्ट होता है कि पातञ्जलयोगदर्शन के प्रथम 'समाधिपाद' में व्यक्तित्व के प्रकार, व्यक्तित्व–विकास हेतु करणीय कार्य तथा व्यक्तित्व के निर्धारकों का विवेचन है। द्वितीय साधन–पाद में व्यक्तित्व विकास में बाधक तत्त्वों का तथा अष्टाङ्ग–योग का वर्णन है। तृतीय 'विभूतिपाद' में उन उपलब्धियों का विवेचन है जो योग–मार्ग पर चलते हुए प्राप्त होती है तथा अन्तिम चतुर्थ–पाद में व्यक्तित्व विकास के चरमोत्कर्ष असम्प्रज्ञात समाधि का वर्णन हैं जो आत्मानुभूति अर्थात् स्वयं के वास्तविक आनन्दमय स्वरूप की प्राप्ति है।

इस प्रकार निःसन्देह रूप से कहा जा सकता है कि पातञ्जलयोगदर्शन में सम्पूर्ण व्यक्तित्व की मीमांसा निहित है।

76- अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ।।।।पातञ्जलयोगसूत्र 1.12।। गोरखपुरः गीताप्रेस सं. 2053

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ।।1 –तथैव–1.13

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः ।।–तथैव–1.14

77- दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।।–तथैव–1.15

78- तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणि धानानि कियायोगः ।।–तथैव–2.1

79- यमनियमासनप्राणायामप्रत्यामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽ ष्टावङ्गानि ।।–तथैव–2.29

4.2 पातञ्जल योग दर्शन में व्यक्तित्व के निर्धारक तत्त्व

भारतीय मान्यतानुसार मनुष्य न केवल शरीर है, बल्कि उसके भीतर एक ऐसी प्राण–शक्ति है जो आध्यात्मिक स्वरूप रखती है। मनुष्य के केवल शारीरिक,बौद्धिक अथवा भावनात्मक व्यवहारों से उसके व्यक्तित्व का सही अनुमान नहीं लगाया जा सकता अपितु उसकी आध्यात्मिक चेतना का स्तर प्रमुख रूप से व्यक्तित्व का निर्धारण करता है।

पातञ्जल योग दर्शन के अनुसार व्यक्तित्व की निर्धारक मुख्य रूप से

- **चित्तवृत्तियॉं** होती है। चित्त जिस–जिस स्थिति में परिणत होता जाता है वे स्थितियॉं चित्त की वृत्तियॉं कहलाती है– ये असङ्ख्य हो सकती हैं किन्तु सत्वादिगुणों के प्राधान्य के अनुसार वे मूलतः त्रिविध हैं– **सात्विक, राजसी, तथा तामसी**। सात्विक वृत्तियॉं प्रकाशयुक्त, तेजयुक्त, विवेक तथा सद्गुणों से परिपूर्ण बनाती है। राजसी वृत्तियॉं चञ्चल अधीर तथा अभिमानी व्यक्तित्व का निर्माण करती है तथा तामसी वृत्तियॉं मूढ, जड़, अज्ञानी, विचारशून्य व्यक्तित्व बनाती हैं।[80] योगदर्शन में वृत्तियों को **क्लिष्ट व अक्लिष्ट** भेद से भी कहा गया है।

चित्तवृत्तियों के अतिरिक्त अन्य कारक भी है; जो व्यक्तित्व निर्धारण में सहयोगी है। यथा

- **आनुवांशिकता** – भारतीय मनोविज्ञान में आनुवांशिकता को मान्य किया गया है अतः उत्तम सन्तति हेतु कुछ नियमों का निर्धारण तथा गर्भाधान के समय उत्तम विचारों के प्रभाव का विवेचन किया गया है। गर्भकाल में माता के आचार – विचार का शिशु पर पूर्णतः प्रभाव होता है इसे आधुनिक विज्ञान ने भी मान्य किया है। माता–पिता और पूर्वजों के गुण– दोषों का प्रभाव सन्तति में परिलक्षित होना ही आनुवांशिकता है। पतञ्जलि ने इससे भी अधिक उच्चतर चरण की बात कही है, वह है 'पूर्वजन्म के संस्कारों' को व्यक्तित्व निर्धारण में सहायक मानना।

योगशास्त्र के अनुसार प्राणी का अपने पूर्वजन्म के संस्कारों के साथ पुनर्जन्म होता है। ये संस्कार जन्म–जन्मान्तरों के सञ्चित संस्कार होते है। प्रारब्ध के रूप में उनका फल प्राणी को भोगना पड़ता है। नवीन कर्मों के संस्कार पुनः सञ्चित हो जाते हैं।

पतञ्जलि लिखते हैं– *" क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः" ।।2.1।।* अर्थात् अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश इन क्लेशों से और इनसे उद्भूत काम, क्रोध, लोभ आदि मनोवेगों से प्रेरित होकर मनुष्य जो पुण्य अपुण्य कर्म करता हैं, उनसे संस्कार रूपी कर्माशय उत्पन्न होता है। जिसे मनुष्य दृष्टजन्मवेदनीय अर्थात् इस जन्म में तथा अदृष्टजन्मवेदनीय अर्थात् आगामी जन्मों में भोगता है।

आगे के सूत्र में पतञ्जलि ने जाति, आयु और भोग हेतु इन्हीं कर्मों को उत्तरदायी बताया है–

" सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः" ।। 2.13।।

" ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात्" ।। 2.14।।

कर्माशय पुण्य और अपुण्य दोनों प्रकार के कर्मों के संस्कार से बना होता है अतः वह हर्ष और परिताप दोनों ही प्रदान करता है। इसी के आधार पर आम जीवन में हम देखते हैं कि कुछ व्यक्तियों के जीवन में दुःख,तनाव ,संघर्ष अधिक होते हैं व किसी को जीवन में सरलता से उपलब्धियॉं प्राप्त होती है। और इनका प्रभाव व्यक्तित्व पर निश्चित रूप से दिखाई देता है।

80- "प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्" ।।–तथैव–2.18

पूर्वजन्म के संस्कारों को व्यक्तित्व निर्धारक स्वीकार करने में एक तर्क यह भी है। कि लोक जीवन में अल्पबुद्धि व अविकसित व्यक्तियों की सन्तानें भी असाधारण प्रतिभासम्पन्न होती हैं तथा यह कभी–कभी विपरीत वातावरण में भी सम्भव होता है।

गौतम बुद्ध पूर्णतः राजसी वातावरण में समस्त भोग ऐश्वर्यों के बीच रहे किन्तु उनके आत्मगत पूर्व जन्म के संस्कारों ने उन्हें एक सर्वव्यापक व सर्वाङ्ग विकसित व्यक्तित्व बना दिया । गौतम बुद्ध के पूर्वजन्म की कथाएँ जातकग्रन्थों में लिखी हैं। संतज्ञानेश्वर,रामकृष्ण परमहंस इत्यादि कई महापुरूषों ने अपने पूर्वजन्म के संस्मरणों का उल्लेख किया है। पूर्वजन्म की बातों का स्मरण चित्त की निर्मलता पर निर्भर करता है पतञ्जलि ने लिखा है–

" भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयनाम्" ।। 1.19 ।।

तात्पर्य यह है कि एक जन्म में अर्जित ज्ञान आगामी जन्मों में भी विद्यमान रहता है। अतः एक जन्म में की गई साधना किसी कारण से पूर्ण या सफल न होने पर अग्रिम जन्म में साधना के संस्कार अवसर आते ही उद्‌बुद्ध हो जाते हैं। ऐसे व्यक्ति भव अर्थात् जन्म से ही आध्यात्मिक रूप से परिपक्व रहते हैं। इन्हें पतञ्जलि ने विदेह तथा प्रकृतिलय कहा है। ये देह को निमित्तमात्र मानने वाले तथा समस्त प्राकृत पादार्थो को विवेकपूर्वक देखने वाले होते हैं। हमारे आस–पास भी ऐसे कई उदाहरण देखने को मिलते हैं जिनका कि कम आयु में ही आध्यात्मिक विकास तथा विवेक अन्यों से बेहतर होता है। यथा आदि शङ्कराचार्य, विवेकानन्द इत्यादि।

इस प्रकार कह सकते हैं कि योगशास्त्रानुसार आनुवांशिकता भी द्विविध है–

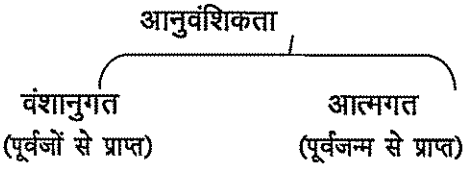

- **वातावरण**

आधुनिक मनोविज्ञान व्यक्तित्व के निर्धारण में पारिवारिक ,सामाजिक ,प्राकृतिक , सांस्कृतिक इत्यादि भिन्न–भिन्न परिवेशों को कारण माना है। पतञ्जलि ने चित्तवृत्तियों को व्यक्तित्व के केन्द्र में रखा है तथा चित्तवृत्तियों का निर्माण करने वाला वातावरण हैं। मुनि पतञ्जलि लिखते है–

"वृत्तिसारूप्यमितरत्र" ।। 1.4 ।।

तात्पर्य यह है कि चित्त की मूल प्रवृत्ति तो वस्तुतः सत्वप्रधान है किन्तु जिस प्रकार स्फटिक मणि या निर्मल दर्पण के सम्मुख जिस रङ्ग का पुष्प रखा जाय वह उसी के समान दिखाई देने लगता है उसी प्रकार व्यक्ति का चित्त जिस प्रकार के वातावरण के सम्पर्क में आता है उसी प्रकार का बनता चला जाता है।

- **दैहिक निर्धारक**

शारीरिक स्वास्थ्य की व्यक्तित्व निर्धारण में महती भूमिका है, जिसे आधुनिक मनोविज्ञान ने भी स्वीकार किया है। पतञ्जलि ने विभिन्न शारीरिक दोषों का उल्लेख किया है जो व्यक्तित्व विकास में बाधक बनते है–[81]

81- व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानिचित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ।।–तथैव–.1.30
दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ।। –तथैव–1.31 ।।

➢ **व्याधि –**

व्याधि का तात्पर्य है शरीरगत विभिन्न धातुओं में यथा रस,रक्त मॉस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र इत्यादि में विषमता का उत्पन्न हो जाना जिसे आधुनिक विज्ञान की भाषा में हार्मोन्स का असन्तुलन कहते है। इस विक्षेप के कारण व्यक्तित्व का सन्तुलन बिगड़ता है। अन्यमनस्कता,अधिक उत्तेजना या उदासीनता व्यक्तित्व में दिखाई देती है।

➢ **अङ्गमजॅयत्त्व–**

अर्थात् अङ्गों का कॉपना, स्थिर न होना।विविध रोगों की स्थिति में मॉसपेशियों को नियमन में रखने वाले तन्तुओं के अशक्त हो जाने पर शरीर अनियन्त्रित हो जाता है और इस स्थिति में व्यक्ति का विकास प्रभावित होता है।

➢ **श्वासप्रश्वास की असामान्यता–**

श्वसन क्रिया के असामान्य होने पर विविध रोगों की आशङ्का होती है तथा इसके कारण व्यक्ति एकाग्र नहीं हो पाता ।

➢ **शारीरिक नियन्त्रण**

इन शारीरिक दोषों को दूर करने हेतु पतञ्जलि ने 'शारीरिक नियन्त्रण' के लिए आसन व प्राणायामका निर्देश किया है। इससे शरीर तथा श्वसन क्रिया पर पूर्ण नियन्त्रण बनता है– शरीर के महत्त्व को पतञ्जलि ने प्रकाशित करते हुए लिखा है–

" रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पत्" ।।3.46।।

अर्थात् शरीर के अङ्ग–प्रत्यङ्ग का सुरूप होना, कान्तिमान् होना, शक्तिशाली तथा दृढ होना, ये चारों शरीर की सम्पत्तियॉ है। शारीरिक स्वास्थ्य व्यक्तित्व के निर्धारण का महत्वपूर्ण घटक है। आधुनिक मनोविज्ञान का भी मानना है कि स्वस्थ व्यक्ति की समायोजन क्षमता अधिक हाती है।

• **मनॉवैज्ञानिक निर्धारक –**

मन के भावों, संवेगों तथा विचारों का व्यक्तित्व के निर्धारण मे महत्वपूर्ण योगदान होता है। पतञ्जलि कृत योगशास्त्र मे दो प्रकार के निर्धारक तत्व प्राप्त होते हैं–

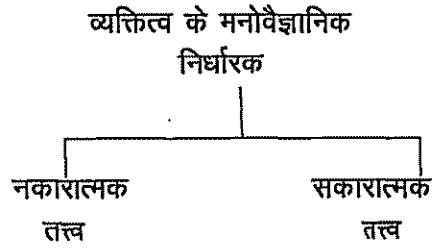

नकारात्मक भाव व्यक्तित्व का पतन करते हैं तथा सकारात्मक भाव उसका विकास करते है। पूर्वोक्त " व्याधिस्त्यान....." इत्यादि सूत्र में नकारात्मक भावों को पतञ्जलि ने उल्लेख किया है–

- **स्त्यान** – अर्थात् चित्त की अकर्मण्यता । कुछ न करने की प्रवृति यह प्रवृति वैचारिक क्षमता को कुन्द बना देती है तथा ऐसा व्यक्ति जो प्राप्त होता है, उसी को भाग्य समझकर स्वीकार कर लेता है विकास या नवाचार की प्रवृत्ति इनमें नहीं होती। फलस्वरूप ये आत्मानुभूति के विषय में सोचते भी नहीं ।

- **संशय** – इस विक्षेप के कारण व्यक्ति के किसी भी विषय पर उभयपक्षीय विचार होते हैं फलस्वरूप श्रद्धा समाप्त हो जाती है। तथा दीर्घकाल तक निरनतर ये लक्ष्योन्मुख नहीं रह पाते।

- **प्रमाद**– साधना के लिए प्रवृति का अभाव ही प्रमाद है इसमें शरीर अपेक्षित प्रयत्न नहीं करता यह मनोगत विक्षेप है।

- **आलस्य** – शरीर और मन में तमोगुणाधिक्य से प्रवृति का अभाव हो जाता है। यह मन व शरीर का उभय विक्षेप है।

- **अविरति** – विषयों के प्रति चित्त का अतिशय लगाव। बारम्बार प्रतिषेध के बाद भी विषयों के भोग में चित्त की आसक्ति होना। इस विक्षेप के कारण तृष्णा, लालसा, लोभादि से युक्त व्यक्तित्व बना जाता है।

- **भ्रन्तिदर्शन** – अर्थात् भ्रम । लोक जीवन में मनुष्यों को सामान्य से भिन्न थोडी भी विशिष्ट उपलब्धि होने पर उसे ही चरमोपलब्धि मानने का भ्रम हो जाता है। जबकि वे अन्तिम सत्य नहीं होते । पतञ्जलि ने भी कहा है ।" ***ते समाधावुपसर्गाः।" 3.36*** अर्थात् ये सब उपलब्धियॉ तो समाधि के क्रम में उपसर्ग के समान है। अतः ऐसे व्यक्ति एक झूठे आडम्बर में जीवन–यापन करने वाले होते है।

- **अलब्धभूमिकता** – अर्थात् प्रयत्न करने पर भी लक्ष्य की प्राप्ति न हो पाना। यह विक्षेप व्यक्ति में विभिन्न मानसिक विकारों को जन्म देता है।

- **अनवस्थित्व** – जिस उच्चतम स्थिति को प्राप्त किया है उसमें स्थिर न रह पाना। ऐसे व्यक्ति उन्नति को प्राप्त करके भी अवनति के गर्त में बार–बार गिरते हैं।

व्याधि के साथ उपर्युक्त आठ भाव अर्थात् कुल नौ विक्षेप चित्त के अन्तराय हैं तथा इनके होने पर दुःख ,दौर्मनस्य अर्थात् इच्छाओं के पूरा न होने पर मन में उत्पन्न क्षोभ इत्यादि उत्पन्न होते हैं और ये सभी व्यक्तित्व विकास को बाधित करते है।

इसके पश्चात् पञ्च क्लेशों[82] को भी पतञ्जलि ने विकास में बाधक माना है। इनसे तमागुण और रजोगुणकी प्रवृतियॉ बढ जाती है परिणामस्वरूप चित्त में मूढता और चञ्चलता आती है। पातञ्जलयोगसूत्रों में दी गई परिभाषा के अनुसार इन क्लेशों का परिचय इस प्रकार है–

- **अविद्या**– *"अनित्याऽशुचिदुःखाऽनात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या"*।। 2.5।। अनित्य,अशुचि तथा दुःखात्मक पदार्थों को नित्यशुचि तथा सुखात्मक मानना ही अविद्या है। सामान्य जीवन में मनुष्य भौतिक सम्पत्ति इत्यादि में ही सुख सोजता रहता है और ऐसा अज्ञान व्यक्तित्व विकास की चरमावस्था आत्मानुभूति के मार्ग मे बाधा है।

82- "अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः"।। –तथैव– 2.3।।

➢ **अस्मिता**– *"दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मेवास्मिता"* ।।2.6।। तात्पर्य यह है कि साधन रूप शरीरादि को ही आत्मा समझने लगना अस्मिता भाव है। ऐसा व्यक्ति शारीरिक तथा भौतिक विकास में ही संलग्न रहता है, आध्यात्मिक विकास में उसका चित्त प्रवेश ही नहीं कर पाता अर्थात् अहं भाव के कारण वास्तविकता में वह स्वयं क्या है , इसे जान ही नहीं पाता है।

➢ **राग और द्वेष** –

"सुखानुशयी रागः।" 2.7।।
"दुःखानुशयी द्वेषः।" 2.8।।

सुख भोगने के पीछे चित्त में उसके निरन्तर भोगने की जो इच्छा रहती है वही राग ही द्वेष का भी कारण हैं क्योंकि जिनसे सुख के साधनों में विघ्न पड़े उनसे द्वेष होने लगता है। राग एक दृष्टि से सकारात्म भाव है क्योंकि यह व्यक्ति में स्नेह,सद्भावनाओं इत्यादि को जन्म देता है यह भावात्मक विकास तथा लोकप्रियता में सहायक होता है किन्तु योग की दृष्टि में यह मोह का कारण होता है, अतः इसे क्लेश कहा है। द्वेषभावप्रधान व्यक्तित्व क्रोध, हिंसा, घृणा और दुर्भावनाओं से परिपूर्ण रहते हैं जो कि समाजा में पसन्द नहीं किए जाते ऐसे लोग आपराधिक प्रवृत्ति के होते हैं।

➢ **अभिनिवेश**–

"स्वरसवाही विदुषोऽपि तथा रूढाऽभिनिवेशः"। 2.9।।

अभिनिवेश अर्थात् आग्रह। यह क्लेश सहज है मूर्खों विद्वानों में समान रूप से रहता है जैसे कि कभी न मरने की इच्छा । लोक जीवन में सामान्यतः जिसका व्यक्तित्व इस क्लेश से जितना अधिक ग्रस्त होता है वह उतना ही अधिक इस प्रकार के विचार रखता है कि मेरे साथ इसी प्रकार की विशिष्ट व्यवहार किया जाय, मुझे ऐसा ही भोजन मिले,सब मेरे विचारों का सम्मान करें मेरे आदेशों का पालन करें, मुझे महत्व दें इत्यादि। इस प्रकार अभिनिवेश वृत्ति से ग्रस्त व्यक्ति की कामना पूर्ति यदि नहीं होती तो वे क्रुद्ध, हिंसात्मक या असन्तुलित हो जाते हैं।

इसके पश्चात् पातञ्जल योग दर्शन में ऐसे सकारात्मक मनोभावों[83] का उल्लेख है जो व्यक्तित्व का निर्धारण करते हैं, यथा–

➢ **श्रद्धा** – शिक्षक,मार्गदर्शक,माता–पिता इत्यादि के वचनों से लक्ष्य प्राप्ति हेतु अभिरूचि उत्पन्न करने वाले विश्वास का नाम ही श्रद्धा है। जिन बच्चों में यह भाव होता है उनका व्यक्तित्व बाल्य–काल से ही समुचित रूप से विकसित होता है।

➢ **वीर्य**– अर्थात् शक्ति या उत्साह जो श्रद्धा से ही उत्पन्न होता है। जो जीवन में सफलता देता है।

➢ **स्मृति**– श्रद्धा और वीर्य से ज्ञान के जो प्रसुप्त संस्कार चित्त में है वे जागृत होने लगते हैं यही स्मृति हैं। लौकिक जीवन में स्मृति ही विभिन्न शैक्षणिक उपलब्धियाँ प्रदान करती है।

83- श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वकमितरेषाम्" ।। –तथैव– 1.20।।

Regional Institute of Education LIBRARY Bhopal

➢ **समाधि–**

इसका तात्पर्य है लक्ष्य में चित्त का एकाग्र और स्थिर होना। समाधि का अर्थ देह का त्याग देना नहीं अपितु एकाग्रता की वह उच्चतम स्थिति जिससे व्यक्ति आत्म मूल्याङ्कन मे समर्थ हो सके।

➢ **प्रज्ञा–**

अर्थात् विवेक ज्ञान। लोक जीवन में उच्च बौद्धिक क्षमता वाले लोगों का व्यक्तित्व प्रायः सफल व विकसित होता है। योग के अनुसार विवके, बुद्धि का उत्कर्ष है।

➢ **संवेग–**

योगदर्शन के अनुसार व्यक्तित्व की सफलता संवेग अर्थात् लगन पर निर्भर करती है योग दर्शन में उल्लेख है –

" तीव्रसंवेगानामासन्नः /" 1.21 ।।

तीव्र संवेग वाले व्यक्तियों को समाधि–लाभ शीघ्र होता है या सामान्य जीवन में लक्ष्य की प्राप्ति शीघ्र होती है। पातञ्जल योग दर्शन मे संवेग का तात्पर्य लगन से है। विज्ञानभिक्षु ने योगवार्त्तिक में कहा है।–

" संवेगः उपायानुष्ठाने शैघ्रयम्" अर्थात् संवेग उपाय के अनुष्ठान में तीव्रता को कहते है। भोजवृत्ति में कहा गया है–*"संवेगः क्रियाहेतुर्दृढतरः संस्कारः"* अर्थात् क्रिया के करने में कारणरूप दृढ़तर संस्कार है, वह संवेग कहलाता है।

ये संवेग भी त्रिविध होते हैं– *"मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः"* ।। 1.22 ।।

अर्थात् मृदुतीव्रसंवेग, मध्यतीव्रसंवेग तथा अधिमात्रतीव्रसंवेग। ये तीनों प्रकार के संवेग उत्तरोत्तर बलशाली होते हैं।

इसके पश्चात् पतञ्जलि ने कुछ ऐसे मनोभावों का वर्णन किया है जो ***व्यक्तित्व के सामाजिक पक्ष*** का विकास करते हैं योगसूत्र में उल्लेख है –

"मैत्रीकरूणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातः चित्तप्रसादनम्"।। 1.33 ।।

चित्त की निर्मलता अर्थात् प्रसादन के द्वारा ही व्यक्ति अपने लक्ष्य तक पहुँच सकता है और इसके लिए पतञ्जलि ने चार प्रकार के भावों को इसका उत्तरदायी कहा है– मैत्री, करूणा, मुदिता और उपेक्षा।

सामान्यतः मानव चित्त परिवेश से निरन्तर प्रभावित होता है। कोई भी मनुष्य जब अन्य किसी का उत्कर्ष या अपकर्ष देखता है तो अपने वर्तमान सम्बन्धों के आधार पर उसके मन में ईर्ष्या ,द्वेष, हर्षादि आवेग उत्पन्न होते हैं जिससे वह स्वयं अपने लक्ष्य से भटकने लगता है अतः चित्त का निर्मल होना अत्यावश्यक है। इसके लिए–

➢ **मैत्री –**

अर्थात् सभी सुखी और उत्कर्ष प्राप्त कर रहे व्यक्तियों के प्रति मैत्रीभाव को रखना चाहिये।

➢ **करूणा–**

अर्थात् समस्त दुःखी और अपकर्ष प्राप्त कर रहे व्यक्तियों के प्रति अपने चित्त में करूणा के भाव को उद्बुद्ध करे तथा करूणा के वशीभूत होकर अपेक्षित आचरण करे । यह भाव सामाजिक सौहार्द्र उत्पन्न करता है।

➢ **मुदिता–**

अर्थात् समाज में दो प्रकार के लोग और होते है। पुण्यात्मा और अपुण्यात्मा अर्थात् सज्जन और दुर्जन। सज्जनों के प्रति मुदिता वृत्ति अर्थात् हृदय से प्रसन्नता का ऐसा अनुभव होना जो मुख पर सहजता से प्रकट हो। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि कोई भी भद्र पुरूष उसी व्यक्ति से मिलना चाहता है जिससे मिलने पर प्रसन्नता का अनुभव हुआ हो। अतः मुदित व्यक्तित्व समाज में अवश्य लोकप्रिय होते है।

➢ **उपेक्षा –**

समाज में दुर्जनों से न स्नेह सम्बन्ध प्रशस्त है न शत्रुता । क्योंकि दुर्जनों से स्नेह सम्बन्ध रखने पर उनके कुसंस्कारों का सङ्क्रमण होने का भय होता है वहीं शत्रुभाव रखने पर उनके द्वारा उपद्रव व अनिष्ट की आशङ्का बनी रहती है अतः ऐसे अपुण्यात्माओं के प्रति उपेक्षा का भाव रखने वाला तटस्थ व्यक्ति सामाजिक रूप से सफल रहता है।

- **नैतिक आचरण –**

इसी शृङ्खला में देखें तो पतञ्जलि ने नैतिक आचरण को भी व्यक्तित्व का निर्धारक माना है जिसके अन्तर्गत उन्होंने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह का उल्लेख किया है। यह वस्तुतः व्यक्तित्व विकास की पहली सीढी है इसी पर जिसने कदम रख लियाा वह उत्तरोत्तर प्रगति की ओर बढता चला जाता है।

- **आध्यात्मिक तत्त्व –**

पातञ्जल योगदर्शन का लक्ष्य ही शारीरिक नियन्त्रण व मानसिक अनुशासन पूर्वक शनैः–शनैः व्यक्ति को आध्यात्मिक विकास की ओर ले जाना है जहाँ वह आत्मानुभूति करने में सक्षम हो सके। योग दर्शनानुसार जिस व्यक्ति में एकाग्रता हो, अभ्यास और वैराग्य[84] भाव हो उस व्यक्ति में ऋतम्भरा प्रज्ञा[85] का उदय होता जाता है और यही निरपेक्ष बुद्धि व्यक्तित्व को आत्मानुभूति के चरमोत्कर्ष पर ले जाती है।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि पातञ्जलयोगशास्त्र में व्यक्तित्व का उत्कर्ष और अपकर्ष करने वाले विविध निर्धारकों का उल्लेख किया गया है रेखाचित्र के माध्यम से एक दृष्टि में इनको इस प्रकार देखा जा सकता है –

84- " *अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः*" ।। –तथैव– 1.13।।
" स तु दीर्घकाल नैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः" ।। –तथैव– 1.14।।
" दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्" ।। –तथैव– 1.15।।

85- "ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा" ।। –तथैव– 1.48 ।।

पातञ्जल योग दर्शनानुसार

व्यक्तित्व के निर्धारक तत्त्व

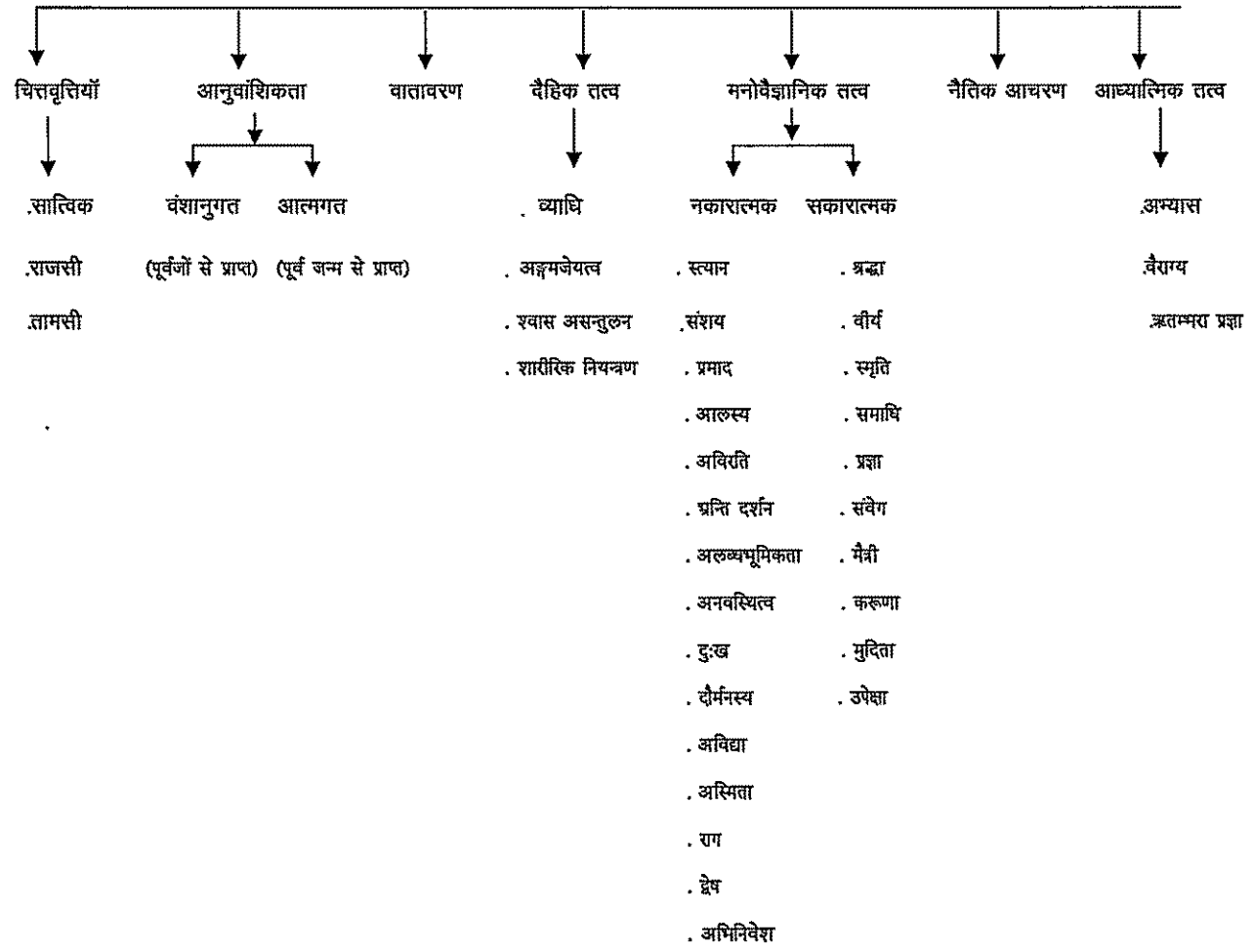

4.3 पातञ्जलयोगदर्शन में व्यक्तित्व के प्रकार

योगदर्शन में चित्त अर्थात् अन्तःकरण सामान्य को व्यक्तित्व का निर्धारक कहा गया है और यह चित्त त्रिगुणात्मक है।[86] अतः ***चित्त के स्वरूप के आधार पर*** व्यक्तित्व के भी मूलतः तीन प्रकार होते हैं–

- **सत्त्व प्रधान**
- **रज प्रधान**
- **तम प्रधान**

योग में इन गुणों के प्राधान्य के आधार पर चित्त की पॉच अवस्थाएँ वर्णित हैं [1] जो कि पञ्चविध व्यक्तित्व को दर्शाती है। अतः ***चित्त की अवस्थाओं*** के आधार पर व्यक्तित्व के इन पांच प्रकारों का विवरण इस प्रकार है–

- **मूढ व्यक्तित्व –**

  मूढावस्था चित्त की तम प्रधान अवस्था है। इसमें मनुष्य निद्रा,तन्द्रा,भय, आलस्य,क्रोधादि के वशीभूत होकर विवेकशून्य होता है। विज्ञानभिक्षु ने योगवार्तिक में इस अवस्था का लक्षण दिया है– *"तमसा निद्रादिवृत्तिमत"* ऐसे व्यक्तियों में मानवीय गुणों की न्यूनता पाई जाती है। मनोविज्ञान की दृष्टि से यह सामान्य व्यवहार से विचलित व्यक्ति की स्थिति है, जिसका मानसिक स्वास्थ्य गम्भीर रूप से रूग्ण है। इसे असामान्य व्यवहार की गम्भीर विकृतावस्था कह सकते है। जिसका उचित उपचार अपेक्षित है।

- **क्षिप्त व्यक्तित्व –**

  यह चित्त की रजोगुण प्रधान दशा है। विज्ञानभिक्षु ने इसका लक्षण दिया है। "रजसा विषयेष्वेव वृत्तिमत्" अर्थात् रजोद्रेक के कारण व्यक्ति विषयों में ही लिप्त रहता है। इस प्रकार के व्यक्ति अतिचञ्चल होते है। जो निरन्तर अपने सुख–साधनों के पीछे भागते रहते हैं। यह मन की बहिर्मुखी स्थिति हैं। ऐसे व्यक्तियों का चित्त अशान्त और अस्थिर बना रहता हैं। मन की शक्ति बिखरी रहती है अतः व्यक्ति कोई कार्य ठीक से नहीं करता । ऐसा व्यक्तित्व इन्द्रियों एवं मन की रूचियों व कल्पनाओं के निर्देशों पर कार्य करता रहता है जिसमें संयम का अभाव होता है। ऐसे व्यक्तियों में कभी–कभी सत्व का उद्रेक होता है तो वह सत्कार्यों की ओा प्रवृत्त हो जाता हैं और जब तमोगुण का उद्रेक होता है तो दुष्कर्म में संलग्न हो जाता है अर्थात् मूलतः इनकी यह प्रवृत्ति नहीं होती अपितु चञ्चलता के कारण सर्वविध कर्म करता है। इसमें राग और द्वेष दोनों भाव आते जाते हैं। वस्तुतः आम व्यक्ति ऐसा ही होता हैं। आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि में यह सामान्य व्यक्तित्व है जो कि विपरीत परिस्थितियों में अपना व्यवहार बदलता है पर योग की दृष्टि से यह सामान्य नहीं है क्योंकि यहॉ चञ्चलता को नहीं एकाग्रता को महत्व दिया गया है।

- **विक्षिप्त व्यक्तित्व –**

  इसमें सत्व का प्राधान्य रहता है। ऐसे व्यक्तियों का चित्त यदा–कदा स्थिरता को प्राप्त करता है। योगवार्तिक में इसका लक्षण दिया गया हैं–

  "क्षिप्ताद्विशिष्टं विक्षिप्तं सत्त्वाधिक्येन समादधपि चित्तं रजोमात्रयाऽन्तराऽन्तरा विषयान्तरवृत्तिमद्"

  अर्थात् यह क्षिप्तादि व्यक्तित्व से कुछ उच्च अवस्था है। इसमें व्यक्ति लक्ष्य में एकाग्र तो होता है पर रजोगुण के जोर मारते रहने के कारण बीच–बीच में अन्य विषयों की ओर दौड जाता है। ऐसें व्यक्ति प्रसन्न, उत्साही, धैर्यवान, दानी,दयालु, क्षमाशील,उच्चविचार वाले तथा श्रेष्ठ होते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से यह सुसमायोजित व्यक्तित्व है जो कि उपलब्धियॉ प्राप्त करता है।

---

86. " क्षिप्तं,मूढं,विक्षिप्तमेकाग्रं, निरूद्धमिति चित्तभूमयः।" व्यासभाष्य पातञ्जलयोगसूत्र।। 1.1

- **एकाग्र व्यक्तित्व –**

  यह सत्वप्रधान अवस्था है। ऐसे व्यक्तित्व का वैशिष्ट्य यह है कि ये किसी एक लक्ष्य या विषय में एकाग्र होते है। इन व्यक्तियों में रजोगुण व तमोगुण दबी हुई अवस्था में रहते हैं। सत्व प्राधान्य के कारण इनके 'आत्म' का विस्तार हो चुका होता है। ये उदार ,शान्त तथा स्थिर चरित्र के होते हैं। इतिहास में अनेक महापुरूष तथा योगी इस श्रेणी में हुए हैं। इस प्रकार के व्यक्ति आत्मानुभूति के स्तर को प्राप्त करते हैं।

- **निरूद्ध व्यक्तित्व–**

  यह व्यक्तित्व विकास की चरमावस्था है जिसमें तामस और राजसी वृत्तियों के साथ सात्विक वृत्ति का भी निरोध हो जाता है। इस अवस्था में बाहर के समस्त विषय अवरूद्ध हो जाते हैं।[87] तथा व्यक्ति पूर्णतः अन्तर्मुख हो जाता है। वस्तुतः सामान्य मनुष्यों की बात करें तो उनके लिए यह अत्यन्त कठिन अवस्था है किन्तु अप्राप्त नहीं है अष्टाङ्ग योगों को सिद्ध कर लेने के पश्चात् यह सम्भव है।

चित्त के प्रधान भावों के आधार पर व्यक्तित्व के प्रकारों को देखा जाए तो व्यक्तित्व में भावात्मक विकास अत्यन्त महत्वपूर्ण पक्ष होता है और योग मनोविज्ञान के अनुसार चित्त के दो प्रधान भाव है– राग और द्वेष । योग सूत्र में उल्लेख है –

सुखानुशयी रागः ।। 2.7
दुःखानुशयी द्वेषः।। 2.8

अतः चित्त के प्रधानभावों के आधार पर व्यक्तित्व द्विविध है ***रागात्मक तथा द्वेषात्मक*** सुख भोगने के पीछे जो चित्त में उसके भोग की इच्छा रहती है वही राग है। जीवन में सुख का अनुभव होने पर उसकी स्मृति से सुख और उसके कारणों के प्रति निरन्तर लालसा और उससे कभी भी विलग न होने की कामना ही राग है।

राग ही द्वेष का भी कारण है क्योंकि जिन वस्तुओं से शरीर इन्द्रियों और मन को दुःख प्रतीत हो अथवा जिनसे सुख के साधनों में विध्न पडे उनसे द्वेष होने लगता है। यह राग और द्वेष चेतन और अचेतन दोनों के प्रति होता है।

राग–भाव प्रधान व्यक्तित्व सहानुभूति ,मित्रता,स्नेह और सद्भावनाओं से परिपूर्ण रहता है। तथा द्वेष भाव प्रधान व्यक्तित्व क्रोध,हिंसा,घृणा और दुर्भावनाओं से परिपूर्ण रहतें।

यद्यपि इस दृष्टि से राग विध्यात्मक भाव है और वह सकारात्मक भावात्मक विकास व लोकप्रियता में सहायक होता है। जबकि द्वेष निषेधात्मक भाव है। किन्तु योग की दृष्टि में दोनों ही क्लेश हैं क्योंकि राग भी अन्ततः दुःखदायी ही होता है। अतः विकसित व्यक्तित्व वह है जो रागात्मक भाव रखते हुए भी उसमें संलिप्त न होवे।

योग दर्शन में ***इन्द्रियसंयम के आधार पर*** देखा जाय तो व्यक्तित्व द्विविध हैं, ***अन्तर्मुख तथा बर्हिमुख।***

योगदर्शन के अनुसार व्यक्ति की इन्द्रियॉं जब निरन्तर बाह्य विषयों से सम्पृक्त रहती है तब वह बहिर्मुख होता। जीवन के अवांछनीय प्रवाह में भी बहता चला जाता है। उसकी समस्त मानसिक उर्जा विषय–भागों में बिखरी रहती है।

87- " तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्" ।। पातञ्जलयोगसूत्र1.3।।

पतञ्जलि ने व्यक्तित्व विकास कम में पॉचवें सोपान में रूप में 'प्रत्याहार'[88] का उल्लेख किया है। इस सोपान में बिखरी हुई मानसिक उर्जा को समेट कर आत्मोन्मुख होने का प्रयास किया जाता है। इन्द्रियों को आन्तरिक सत्य की ओर मोड़ा जाता है तथा जब व्यक्तित्व अन्तर्मुख हो जाता है। तभी वह आत्मानुभूति के मार्ग पर अग्रेसर होता है। इस प्रकार इस आधार पर व्यक्तित्व के दो प्रकार होते हैं अन्तर्मुखी तथा बहिर्मुखी।

उपर्युक्त व्यक्तित्व के प्रकारों का वर्गीकरण रेखाचित्र के माध्यम से प्रस्तुत है –

पातञ्जलयोगदर्शन में व्यक्तित्व के प्रकारों का वर्गीकरण

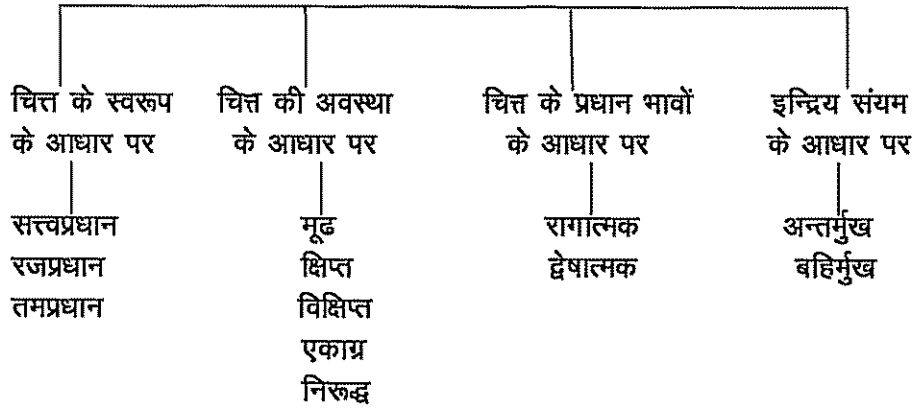

4.4. पातञ्जलयोग दर्शन में व्यक्तित्व विकास की प्रक्रिया

व्यक्तित्व विकास रूपी यक्ष प्रश्न का समाधान भारतीय व पश्चिमी चिन्तन में निहित व्यक्तित्व अवधारणा के अनुरूप ही किञ्चित् भिन्न पाया जाता है। पश्चिमी मानोविज्ञान की प्रचलित धारणा में यह वैयक्तिकता तथा अहम् के सशक्तीकरण अर्थात् बौद्धिक उपलब्धियों का केन्द्र में रखकर परखा जाता है वही भारतीय चिन्तन का केन्द्र आध्यात्मिक विकास है।

यद्यपि पतञ्जलि ने भी इन समस्त शारीरिक,बौद्धिक इत्यादि पक्षों को समान महत्त्व दिया है किन्तु वह व्यक्तित्व गठन का एक सोपान मात्र है जो कि किसी भी विषम स्थिति के प्रहार से खण्डित हो सकता है। किन्तु अहं की क्षुद्र सत्ता से उपर उठकर आत्मा की महान् सत्ता की ओर व्यक्ति उन्मुख हो जाए अर्थात् आध्यात्मिक विकास में प्रवृत्ति हो जाए तो ऐसा व्यक्तित्व समस्त प्रहारों को सहन कर लेगा तथा एक पूर्ण व समग्र व्यक्तित्व होगा।

इसी परिप्रेक्ष्य में मुनि पतञ्जलि ने व्यक्तित्व विकास का सुव्यवस्थित मार्ग अष्टाङ्ग योग के रूप में बताया है–

"यमनियमाऽसनप्राणयामप्रत्याहार धारणा ध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि" ।।

88- "स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः"।। तथैव 2.54।।

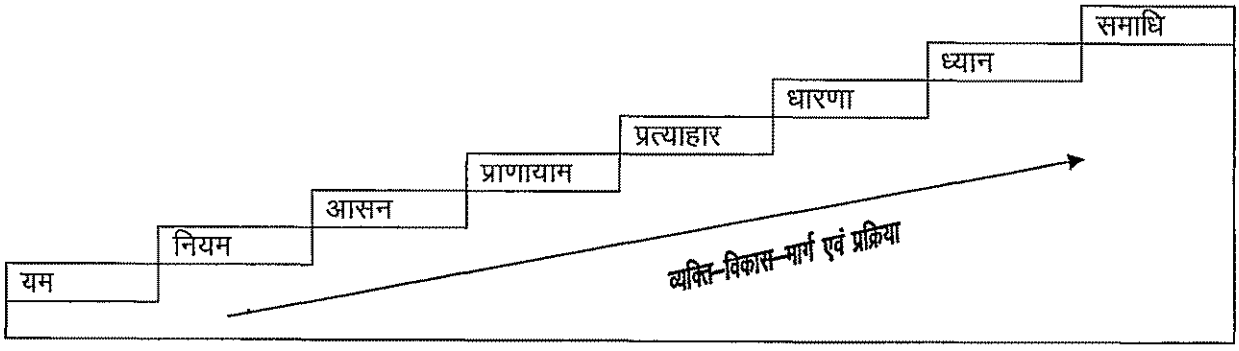

इस प्रक्रिया के प्रथम चरण यम को पतञ्जलि ने परिभाषित किया है –

- *यम – " अहिंसासत्यमस्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः"।। २.३० ।।*

  अर्थात् यम पञ्चविध हैं –

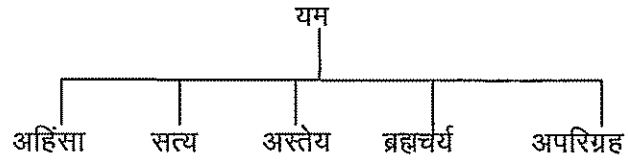

'यम' का अभिप्राय उस सदाचार से है जिससे व्यक्ति समाज में एक सभ्य सुसंस्कारित व्यक्ति के रूप में तनावरहित जीवन–यापन कर सके इसीलिये यह व्यक्तित्व विकास की प्रथम सीढी है। इसके पाँच प्रकारों का सङ्क्षिप्त विवेचन इस प्रकार है :–

➢ **अहिंसा –**

मनसा,वाचा ओर कर्मणा किसी भी प्राणी को किसी प्रकार का दुःख न देना ही अहिंसा है। हिंसा के मूल में लोभ,मोह या कोध रहता है और इनके होने पर व्यक्तित्व कभी भी विकसित नहीं हो सकता अतः अहिंसा अत्यावश्यक है। यह भी इतनी प्रबल होनी चाहिये कि अहिंसक व्यक्ति की सन्निधि होने मात्र से वैर भाव समाप्त हो जाय।

➢ **सत्य –**

मन वचन तथा कर्म से वस्तु के यथार्थ रूप की अभिव्यक्ति ही सत्य है। वाणी से वही कहना जो इन्द्रियों या प्रमाणों से देखा, सुना समझा है। सत्य की प्रतिष्ठा जीवन में होने पर व्यक्ति की वाणी सदा फलवती होती है। लोक–जीवन में भी हम देखते है कि कुछ व्यक्तियों के वचन सत्य होते हैं तथा उनके व्यक्तित्व को समाज में प्रभावशाली माना जाता है।

➢ **अस्तेय–**

दूसरों की धन–सम्पति को निषिद्ध उपायों से ग्रहण करना चोरी (स्तेय) है तथा उसका त्याग करना अस्तेय है। अध्यापक हो या प्रशासक, वस्तुतः जो भी अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करता, वह स्तेय कर्म में लिप्त है । अर्थात् अस्तेय का तात्पर्य यह है कि जितनी परा हमारा अधिकार है उतनी ही वस्तु,धन इत्यादि ग्रहण करना । अस्तेय पालक व्यक्ति के पास समृद्धि स्वयं स्थित होती है।

➢ **"ब्रह्मचर्य –**

समस्त इन्द्रियों के नियन्त्रण से कामेन्द्रिय के उपर संयम को ब्रह्मचर्य कहते है। अर्थात् विवकपूर्वक मर्यादा के साथ समस्त इन्द्रियों का उपयोग करना । इससे शक्ति सञ्चय होता है। फलस्वरूप विभिन्न द्वन्द्वों से संघर्ष करने की क्षमता उत्पन्न होती है।

➢ **अपरिग्रह –**

आवश्यकता से अधिक सङ्ग्रह न करना ही अपरिग्रह है। संचय की वृत्ति ही लोभ,भोग व तृष्णा को उत्पन्न करती है। इसमें धन,वस्तुएँ, अनावश्यक विचार सब कुछ सम्मिलित है अतः जो व्यक्ति अनावश्यक धनादि सङ्ग्रह व निरर्थक विचारों से स्वयं को मुक्त कर लेता है उसका मस्तिष्क शान्त रहता है फलतः वह अपने अतीत और भविष्य का विश्लेषण करने की योग्यता को प्राप्त कर लेता है।

• द्वितीय सोपान ***'नियम'*** के सम्बन्ध में योगशास्त्र में उल्लेख है –

"शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।" 2.32 ।।

अर्थात् नियम भी पाँच प्रकार के हैं –

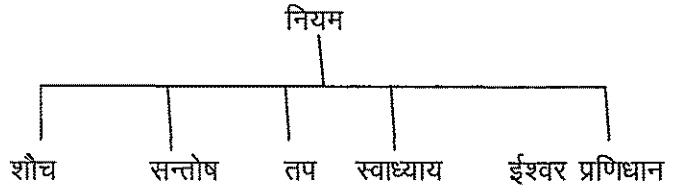

इनका संङ्क्षिप्त विवेचन प्रस्तुत है –

➢ **शौच –**

शौच अर्थात् शुद्धिकरण। बाह्य शरीर, आन्तरिक शरीर तथा चित्त की शुद्धि, यह व्यक्तित्व विकास का अगला सोपान है। स्नानादि द्वारा बाह्य शुद्धि, सात्विक आहार प्राणायाम , नेति इत्यादि यौगिक क्रियाओं द्वारा आन्तरिक– शरीर शुद्धि तथा मैत्री करूणा मुदिता, उपेक्षा इत्यादि सद्भावों द्वारा चित्त की शुद्धि अपेक्षित है।

➢ **सन्तोष –**

अर्थात् प्रत्येक परिस्थिति में प्रसन्न रहना जब जितने साधन प्राप्त हो, उनमें तृप्ति का अनुभव करना , अभाव का बोध तथा उससे होने वाली पीड़ा का पूर्णतया अभाव का बोध तथा उससे होने वाली पीड़ा का पूर्णतया अभाव होना। सन्तोष का अर्थ आलस्य, प्रमाद या अकर्मण्यता नहीं है अपितु यह सत्त्व की उच्चावस्था है जो आनन्दमय कोश का विकास करती है।

➢ **तप–**

तप अर्थात् द्वन्द्वों को सहन करने की क्षमता। शरीर व इन्द्रियों को उच्च ध्येय के अनुरूप कठोर अनुशासन में ढालना कायिकतप है, वाणी कर संयम वाणी का तप है। मन का संयम मानसिक तप है। तप के द्वारा शरीर व मन स्वस्थ, निर्मल तथा बलवान होता है।

➢ **स्वाध्याय –**

स्वाध्याय से दो अर्थ अभिप्रेत है, स्वयं अध्ययन करना तथा स्वयं का अध्ययन करना। तैत्तिरीयोपानिषद् में कहा है– "स्वाध्यायान्माप्रमदः।" अर्थात् स्वाध्याय में प्रमाद अकर्त्तव्य है। स्वाध्याय सद्ग्रन्थों सज्जनों व गुरूजनों की वाणी के प्रकाश में स्वयं का उचित मूल्यांकन तथा जीवन की दिशा के निर्धारण का मार्ग है जिसे आधुनिक मनोविज्ञान Self Actulization कहता है।

➢ **ईश्वरप्रणिधान –**

इसका तात्पर्य है प्रपत्ति अर्थात् ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण । वस्तुतः यह व्यक्ति में समर्पण–भाव का द्योतक है। लोक–जीवन में माता–पिता, गुरू, ज्येष्ठ इत्यादि आदरपात्रों के प्रति जिस व्यक्ति में समर्पण का भाव होता है उसे उपलब्धि निश्चित रूप से प्राप्त होती है ओर उसके व्यक्तित्व का विकास उत्तरोत्तर होता जाता है।

- तृतीय सोपान *'आसन'* को योगशास्त्र में इस प्रकार परिभाषित किया है –

  " स्थिरसुखमासनम्" ।। 2.46 ।।

स्थिरतापूर्वक पीड़ा रहित स्थिति का नाम आसन है अर्थात् जिस स्थिति में साधक सुखपूर्वक स्थिर होकर चिरकाल तक साधना हेतु स्थित रह सके । व्यासभाष्य मेंआसन केपद्मासन,वीरासन,भद्रासन इत्यादि भेद बताए हैं। वस्तुतः आसन का मुख्य कार्य शरीर को स्वस्थ बनाना उसके आलस्य और भारीपन को दूर कर शरीर में स्फूर्ति लाना है। आसनजय व्यक्ति का स्नायुमण्डल शक्तिशाली होता है। आसन शारीरिक स्वास्थ्य के साथ मानसिक स्थिरता प्रदान करता है और व्यक्तित्व विकास का यह प्रमुख पक्ष है। आसन करने वाले विद्यार्थी की पठनक्षमता दीर्घकालिक होगी विभिन्न व्यवधानों पर जय प्राप्त करने में वह समर्थ होगा।[89]

- *'प्राणायाम* के सम्बन्ध में पतञ्जलि लिखते है–

  "तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।। 2.49 ।।

प्राण जीवन का आधार है। प्राणायाम इस प्राणशक्ति के नियन्त्रण एवं विस्तार की विद्या है। इसमें तीन कियाएँ निहित है[90] –बाह्यवृत्ति अर्थात् कोष्ठ में स्थित वायु को बाहर निकालने की किया जिसे 'रेचक' कहते हैं।

आभ्यन्तर वृत्ति अर्थात् बाहर की वायु को अन्दर लेने की किया जिसे 'पूरक' कहते है। तृतीय स्तम्भवृत्ति अर्थात् बाहर की वायु को बाहर तथा अन्दर की वायु को अन्दर रोकना जिसे 'कुम्भक' कहते है।

वस्तुतः प्राणायाम श्वास की गति को नियमित करके प्राण शक्ति के उपर नियन्त्रण पाना है। प्राणायाम चित्त को एकाग्रता व दृढता प्रदान करने वाली विज्ञान सम्सत यौगिक विद्या है। व्यक्तित्व के संगठन में इसका महत्व स्पष्ट ही है। प्राणायाम द्वारा ही प्रत्याहार की स्थिति प्राप्त होती है।

- *'प्रत्याहार'* को परिभाषित करते हुए योगशास्त्र में कहा गया है –

  "स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ।। 2.54 ।।

इन्द्रियों का संयम ही प्रत्याहार है। जिससे चित्त में बाह्य विषयों की प्रतिच्छाया न होकर आत्मबिम्ब उभरे । प्रत्याहार में इन्द्रियों के माध्यम से बाह्य जगत् एवं इसके विषय भोगों में बिखरी मानसिक उर्जा को अन्तर्मुखी किया जाता है। व्यावहारिक रूप से प्रत्याहार जीवन के अवाञ्छनीय प्रवाह से स्वयं को समेटने व आत्मोन्मुख होने का अभ्यास है।

---

89. ततो द्वन्दानाभिघातः। –तथैव–2.48
90. बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसङ्ख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः।। –तथैव– 2.50।।

- *'धारणा'* के संबंध में उल्लेख है – *"देशबन्धश्चित्तस्य धारणा" ।। 3.1 ।।*

शरीर के बाहर अथवा भीतर किसी एक स्थान पर चित्त की वृत्ति को लगाने को धारणा कहते है। अर्थात् प्रत्याहार द्वारा अन्तर्मुख मानस चेतना को किसी एक बिन्दु पर स्थिर करना है। धारणा चरित्र और व्यक्तित्व में दृढता प्रदान करती है।

- अष्टाङ्गयोगसाधना के सातवें सोपान पर *'ध्यान'* योग का स्थान है पतञ्जलि लिखते हैं– *"तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् "*।।3.2।। जहॉ चित्त को लगाया गया है उसी वृत्ति का लगातार चलना ध्यान है। इस स्थिति में ध्येय वस्तु में चित्त की एकाग्रता बनी रहती है। ध्यान चेतना के सभी स्तरों को प्रकाशित करता है अतः ध्यान का अभ्यास मनुष्य के समग्र व्यक्तित्व के गठन को अद्भुत ढङ्ग से प्रभावित करता है।

- व्यक्तित्व–विकास का चरमोत्कर्ष आत्मानुभूति अर्थात् *'समाधि'* अवस्था है इसे परिभाषित करते हुए पतञ्जजि लिखते हैं –

"तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूप शून्यमिव समाधिः ।।3.3।।

समाधि ध्यान की पराकाष्ठा है। ध्यान करते–करते जब चित्त ध्येयाकार में परिणत हो जाता है तथा उसके अपने स्वरूप का अभाव हो जाता है तब उसके अपने बाह्य स्वरूप का अभाव हो जात है तब व्यक्ति अपने आन्तरिक स्वरूप का अनुभव करता है और समाधि की स्थिति होता है। मनोविज्ञान की दृष्टि से यह अचेतन की पूर्ण विजय है जब व्यक्ति के भाव, बुद्धि व समस्त इच्छाएँ सङ्गठित हो जाती हैं। सामान्य जीवन में जब व्यक्ति अपने लक्ष्य के प्रति इतना एकाग्र हो जाता है कि उसका चित्त लक्ष्य के स्वरूप का ही हो जाता है तो निश्चित रूप से वह अपने लक्ष्य को प्राप्त करता है तथा समाज में सफल व्यक्तित्व के रूप में प्रतिष्ठित होता है।

समग्र दृष्टिकोण से पातञ्जलयोगदर्शन में निहित *व्यक्तित्व विकास प्रक्रिया* पर दृष्टिपात करें तो स्पष्ट होता है कि अभ्यास और वेराग्य पूर्वक अष्टाङ्ग योग के माध्यम से मनुष्य शारीरिक इत्यादि विकास करते हुए अन्ततः उस शिखर पर पहुँचता है जहाँ उसके चित्त की शक्तियों को विभुत्व प्राप्त होता है। आधुनिक विज्ञान भी इस तथ्य को स्वीकार करता है कि सामान्य मानव अपने मस्तिष्क की शक्तियों का अल्पांश ही प्रयोग करने में सक्षम होता है। योगाभ्यास से अन्तःकरण की इन शक्तियों का जागरण और विकास सम्भन होता है।

इस मार्ग का अनुसरण करते हुए व्यक्ति को विभिन्न उपलब्धियाँ प्राप्त होने लगती है जो कि उसके विकास की सूचक होती है। इनका विस्तृत पतञ्जलि ने साधनपाद तथा विभूतिपाद में किया है। योगशास्त्रानुसार विकास के प्रथम सोपान यम पर आरूढ होते ही अहिंसा पालन से सब प्राणियों से बैर समाप्त हो जाता है।[91] सत्य के अभ्यास से व्यक्ति की वाणी कभी निष्फल नहीं होती है।[92] अस्तेय का भाव सिद्ध हो जाने पर धन–सम्पदा सहज प्राप्त हो जाती है।[93] ब्रह्मचर्य असीतिम शारीरिक शक्ति व मानसिक शक्ति प्रदान करता है।[94] अपरिग्रह की दृढ़ता से चित्त निर्मल हो जाता है फलस्वरूप व्यक्ति को गत जन्मों का तथा वर्तमान जीवन का समस्त ज्ञान प्राप्त हो जाता है।[95]

91- अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः ।।–तथैव– 2.35।।
92- सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ।।–तथैव– 2.36।।
93- अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ।।–तथैव– 2.37।।
94- ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ।।–तथैव– 2.38।।
95- अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथंतासम्बोधः ।।–तथैव– 2.39।।

द्वितीय सोपान पर शौच का अभ्यास होने पर व्यक्ति की बुद्धि इस भौतिक शरीर के राग से मुक्त होने लगती है।[96] सन्तोष, मानसिक शुद्धि ऊर्जा को अन्तर्मुखी करती है तथा इससे इन्द्रियों पर विजय पूर्वक आत्मदर्शन की योग्यता प्राप्त होती है।[97] सन्तोष अन्तहीन तृष्णाओं से मुक्ति प्रदान कर जीवन में शक्ति प्रदान कर जीवन में शान्ति देता है।[98] तप शरीर और इन्द्रियों के समस्त मलों का नाश कर देता है।[99]

स्वाध्याय, साधक को इष्टपुरूषों का दर्शन कराता हैं अर्थात् शनैः शनैः ज्ञानवान् होने पर स्वमेव सिद्ध विद्वानों की सङ्गति का लाभ प्राप्त होता जाता है जो विकास प्रक्रिया को गति प्रदान करता है।[100] ईश्वरप्रणिधान, समर्पण का भाव है जो निरन्तर उपलब्धि के विश्वास को दृढ बनाता है तथा लक्ष्य की प्राप्ति करवाता है[101]

आसन को सिद्ध कर लेने पर द्वन्द्वों को सहन करने की शक्ति आती है।[102] जो कि न केवल छात्र–जीवन में अपितु सम्पूर्ण जीवन में आवश्यक है। प्राणायाम से समस्त नाड़ियाँ शुद्ध हो जाती है अर्थात् समस्त मलावरण नष्ट हो जाते हैं फलस्वरूप शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य स्थिर हो जाता है।[103] प्रत्याहार का अभ्यास हो जाने पर समस्त इन्द्रियों पर साधन विजय प्राप्त कर लेता है।[104]

अष्टाङ्ग–योग के अन्तिम तीन सोपान अन्तरङ्ग योग कहे गये हैं इन्हें पतञ्जलि ने संयम का नाम दिया है।[105] संयम विभिन्न अद्भुत उपलब्धियों को प्रदान करता है। चित्त के परिणामों में संयम करने से मनुष्य को भूत और भविष्य का ज्ञान होने लगता है।[106] शब्दार्थों में संयम करने से साधक समस्त प्राणियों की वाणी समझने में समर्थ हो सकता है।[107] अर्थात् लौकिक–जीवन में भी जो विद्यार्थी निष्ठा और लगन से स्वाध्याय या शब्द–साधना करता है उसे अव्यक्त ध्वनियाँ भी समझ आने लगती है और उसकी अर्थग्रहण क्षमता भी अत्यन्त सटीक होती है।

दूसरों के चित्त पर एकाग्रता व संयम करने से साधक अन्य लोगों के भावों को समझने में भी समर्थ हो जाता है।[108] आम–जीवन में भी हमें ऐसे अनुभव प्राप्त होते हैं कि कुछ महानुभाव ऐसे होते हैं जो दूसरों के मन की बातों को जान लेते हैं, यह भी उपलब्धि का एक प्रकार है जिस आधुनिक परा–मनोविज्ञान पूर्वाभास या पूर्वसंज्ञान (Pre-cognition) कहता है।

96- शौचात् स्वांगजुप्सा परैरसंसर्गः।।–तथैव– 2.40।।
97- सत्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च।।–तथैव– 2.41।।
98- सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः।।–तथैव– 2.42।।
99- कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः।।–तथैव– 2.43।।
100- स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः।।–तथैव– 2.44।।
101- समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्।।–तथैव– 2.45।।
102- ततो द्वन्द्वानभिघातः।।–तथैव– 2.48।।
103- ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्।।–तथैव– 2.52।।
104- ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्।।–तथैव– 2.55।।
105- त्रयमेकत्र संयम।।–तथैव– 3.4।।
106- परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम्।।–तथैव– 3.16।।
107- शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्संकरस्तत्प्रविभागसंयमात्सर्वभूतरुतज्ञानम्।।–तथैव– 3.17।।
108- प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्।।–तथैव– 3.19।।

विकास प्रक्रिया के इस क्रम में पतञ्जलि ने कुछ ऐसी उपलब्धियों या विभूतियों का वर्णन भी किया है जिन पर विश्वास करना व्यक्तिगत आस्था तथा स्वयं अनुभूत करने का विषय है; यथा शरीर में संयम करने से उसकी ग्राह्य शक्ति का नियमन और स्तम्भन करने में व्यक्ति समर्थ हो सकता है तथा अदृश्य होने की शक्ति भी प्राप्त कर सकता है।[109]

मैत्री करूणा आदि भावों में संयम करने से व्यक्ति को मित्रता आदि सहज शक्ति प्राप्त हो जाती है।[110] जिस बल में वह संयम करता है, उसी को प्राप्त कर लेता है।[111] विकासशील ऐसा व्यक्तित्व अदृश्य व अमूर्त्त तत्त्वों का भी साक्षात्कार करता है।[112] उसे अणिमा आदि अष्ट सिद्धियाँ तथा शारीरिक सौन्दर्य की प्राप्ति होती है[113]

इस प्रकार की अनेकानेक विधाएँ व्यक्ति को सिद्ध होती जाती है। इसके पश्चात् पतञ्जलि ने नाभिचक्र, मूर्धा, हृदय समीप स्थित अनाहत चक्र इत्यादि में संयम पूर्वक कुण्डलिनी–शक्ति के जागरण का व्याख्यान किया है।[114] कुण्डलिनी वह महाशक्ति है जो प्रत्येक व्यक्ति में विद्यमान रहती है जिसे अभ्यासादि के द्वारा जागृत किये जाने की आवश्यकता होती है। आधुनिक मनोविज्ञानी व दार्शनिक श्री अरविन्द ने इस शक्ति का महत्त्व 'योगसमन्वय' के राजयोग प्रकरण में किया है। आधुनिक विज्ञान भी मानता है कि 'कॉस्मिक एनर्जी' विद्यामान है तथा मनुष्य अपनी शक्ति का विस्तार कर उसका उपयोग कर सकता है।

अन्त में निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि यम–नियमादि के मार्ग अनुसरण करने पर किस प्रकार तुच्छ शरीर से आरम्भ करते हुए अद्‌भुत शक्ति–सम्पन्न व्यक्तित्व का निर्माण होता है, इसका विवेचन योग शास्त्र करता है। इस विकास प्रक्रिया का अवसान 'कैवल्य' प्राप्ति में होता है जिसे हम आत्मानुभूति की अवस्था कह सकते हैं। इस सन्दर्भ में एक तथ्य और कहना प्रासङ्गिक होगा कि इन समस्त उपलब्धियों तथा विभूतियों का वर्णन करने के बाद पतञ्जलि ने स्पष्ट किया है कि–

"ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः।।3.37।।

अर्थात् ये सब उपलब्धियाँ भी समाधि सिद्धि या कैवल्य प्राप्ति में बाधा बन जाती है जब व्यक्ति इनके आकर्षण में ही उलझ कर रह जाय अर्थात् यह एक अत्यन्त आश्चर्यचकित करने वाला तथा पवित्र विचार है कि यदि वास्तविकता में एक सर्वाङ्ग विकसित व्यक्तित्व बनना है तो किसी भी उपलब्धि का अभिमान या मोह नहीं होना चाहिये।

इस प्रकार पातञ्जलयोगदर्शन में वर्णित व्यक्तित्व–विकास–प्रक्रिया का विवेचन सम्पन्न होता है।

109- कायरूपसंयमात्तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुः प्रकाशासम्प्रयोगेऽन्तर्द्धानम्।।–तथैव– 3.21।।

110- मैत्र्यादिषु बलानि।।–तथैव– 3.23।।

111- बलेषु हस्तिबलादीनि।।–तथैव– 3.24।।

112- प्रवृत्त्यालोकन्यासात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम्।।–तथैव– 3.25।।

113- ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत् तद्धर्मानभिघातश्च।।3.45।।

114- नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्।।–तथैव– 3.29।।
कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः।।–तथैव– 3.30।।
कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्।।–तथैव– 3.31।।
मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्।।–तथैव– 3.32।।
प्रातिभाद्वा सर्वम्।।–तथैव– 3.33।।
हृदये चित्तसंवित्।।–तथैव– 3.34।।